संपादकीय जागरण

बुधवार, 16 मई, 2018 : ज्येष्ठ शुक्ल 1 वि. 2075

डूबने से डरेंगे तो कभी तैरना नहीं सीख पाएंगे

अधर में कर्नाटक

कर्नाटक विधानसभा के चुनाव नतीजे तमाम उतार-चढ़ाव से गुजरने के बाद जिस रूप में सामने आए उससे सभी राजनीतिक दलों का गणित तो बिगड़ा ही, राज्य राजनीतिक अस्थिरता के चंगुल में भी फंस गया। राजनीतिक अस्थिरता जोड़-तोड़ की राजनीति को बल देने के साथ-साथ राज्य विशेष के हितों की बलि ही लेती है। कर्नाटक की भलाई इसी में है कि राजनीतिक अनिश्चितता का माहौल जल्द दूर हो। कर्नाटक के नतीजों की चाहे जैसी व्याख्या क्यों न की जाए, जनादेश यह नहीं कहता कि कांग्रेस फिर से सत्ता में लौटे, लेकिन उसने जनता दल-एस को आगे कर इसके लिए ही कोशिश की है। इसके जवाब में बहुमत से दूर रह गई भाजपा ने भी सबसे बड़ा दल होने के नाते सरकार बनाने की दावेदारी पेश कर दी है। अब निगाहें राज्यपाल पर हैं। उन्हें यह देखना होगा कि कौन बहुमत साबित करने और स्थिर सरकार देने में सफल हो सकता है-भाजपा या फिर कांग्रेस एवं जनता दल-एस का गठबंधन? राज्यपाल चाहे जिस नतीजे पर पहुंचें, यह साफ है कि अगर भाजपा बहुमत से चंद कदम दूर रह गई है तो कांग्रेस और जनता दल-एस का गठबंधन भी राजनीतिक अवसरवाद का नमूना है। मुश्किल यह है कि खंडित जनादेश राजनीतिक दलों को अवसरवाद की ऐसी राजनीति का मौका उपलब्ध कराता है। खंडित जनादेश के तहत कई बार तो ऐसी भी स्थिति बनती है कि एक-दूसरे के खिलाफ चुनाव लड़ने वाले दलों को भी हाथ मिलाना पड़ता है, लेकिन इस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि कांग्रेस और जनता दल-एस का गठबंधन स्वाभाविक गठबंधन है।

कर्नाटक में भाजपा और जनता दल-एस, दोनों ही कांग्रेस को सत्ता से बाहर करने के लिए चुनाव में उतरे थे। यह भी एक तथ्य है कि कांग्रेस और जनता दल-एस एक-दूसरे के प्रति कहीं अधिक हमलावर थे, लेकिन अब दोनों खुद को स्वाभाविक सहयोगी बता रहे हैं। आदर्श स्थिति तो यह होती कि खंडित जनादेश के बाद भाजपा और जनता दल-एस एक साथ आते, लेकिन राजनीति आदर्शों पर कम, राजनीतिक दलों के अपने-अपने हितों के हिसाब से अधिक चलती है। कांग्रेस और जनता दल-एस अपने एका के लिए जो तमाम तर्क दे रहे हैं उनमें एक यह भी है कि वे सेक्युलर राजनीति को बल देने के लिए एक साथ आए हैं। यह हास्यास्पद तर्क है, क्योंकि सभी को पता है कि अतीत में जनता दल-एस भाजपा के सहयोग से सरकार चला चुका है। इसी तरह उसके और कांग्रेस के बीच का ऐसा ही गठबंधन पहले भी टूट चुका है। कहना कठिन है कि यह नया गठबंधन कब तक चलेगा, लेकिन यह तय है कि इसका आधार सेक्युलर मूल्य तो कतई नहीं हैं। सच तो यह है कि अगर कांग्रेस और जनता दल-एस सचमुच सेक्युलर मूल्यों की राजनीति कर रहे होते तो वे कभी अलग होते ही नहीं। हो सकता है कि कांग्रेस जनता दल-एस के सहारे फिर से सत्ता में लौट आए, लेकिन इससे न तो उसकी मजबूती झलकेगी और न ही वह विपक्षी एकता का नेतृत्व करने की दावेदारी हासिल कर पाएगी। वैसे भी चुनाव नतीजे यही अधिक कह रहे हैं कि कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में राहुल गांधी एक बार फिर नाकाम रहे।

एक और विफलता

सारी दुनिया को आध्यात्मिक ऊर्जा देने वाले बनारस में एक फ्लाईओवर गिरने से हुई जनहानि बेहद दुखद है। घर से निकले लोगों की मौत इसलिए हो जाए कि उनके ऊपर कोई निर्माणाधीन पुल आ गिरेगा तो इससे भयानक कुछ नहीं हो सकता। यह व्यवस्था की विफलता है। ऐसी हर घटना के बाद कुछ दिन तो गहमागहमी रहती है लेकिन, फिर वही ढाक के तीन पात। बीती फरवरी में मीरजापुर में भी ऐसा ही हादसा हुआ था जब एक निर्माणाधीन पुल की शटरिंग खुल जाने से मलबा गिरा और दो मजदूर घायल हो गए। करीब तीन सप्ताह पहले साहिबाबाद में भी निर्माणाधीन पुल का एक हिस्सा आटो पर गिर पड़ा था। तब भी चार लोग घायल हुए थे।

बनारस दुर्घटना के कारणों का पता तो जांच समिति लगाती रहेगी लेकिन, पुल बनाने वाले उत्तर प्रदेश सेतु निगम के पास इस बात का क्या जवाब है कि तीन साल में फ्लाईओवर अभी 56 प्रतिशत ही पूरा हो सका है। 129 करोड़ रुपये की लागत और 2261 मीटर लंबाई वाला यह पुल अरसे से बनारस वासियों के लिए सिरदर्द है। पुल बनारस के व्यस्ततम क्षेत्र में बन रहा है। चौकाघाट से लहरतारा जाने वाले इस पुल के निर्माण की धीमी रफ्तार भीषण जाम का कारण बनी है। लापरवाही की हद यह कि कोई ट्रैफिक डायवर्जन नहीं किया जाता। सेतु निर्माण निगम का मुख्यालय लखनऊ में है जहां इन दिनों मेट्रो का काम चल रहा है। सेतु निगम या सरकार की पीडब्ल्यूडी जैसी दूसरी निर्माण एजेंसियां मेट्रो वालों से निर्माण का सलीका सीख सकती हैं।

सेतु निगम या सरकार की पीडब्ल्यूडी जैसी दूसरी निर्माण एजेंसियां मेट्रो वालों से निर्माण का सलीका सीख सकती हैं

कह के रहेंगे

माधव जोशी

जागरण जनमत

कल का परिणाम

क्या एससी-एसटी एक्ट को संविधान की नौवीं अनुसूची में लाने का सरकार का फैसला सही है?

आज का सवाल

क्या आप चीन के सरकारी बैंक से सहमत हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था अपने स्वर्णिम युग में प्रवेश कर रही है?

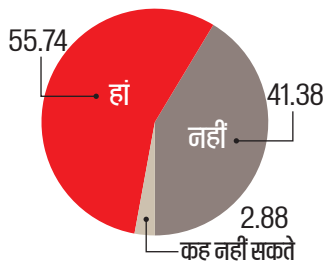

अपनी राय और अधिक लोगों तक पहुंचाने के लिए अपने मोबाइल के मैसेज बॉक्स में जाकर **POLL** लिखें, स्पेस देकर **Y, N** या **C** लिखकर 57272 पर भेजें
Y -हां, **N**-नहीं, **C**-कह नहीं सकते

परिणाम जागरण इंटरनेट संस्करण के पाठकों का मत है।
सभी आंकड़े प्रतिशत में।

भाजपा से बड़ी मुश्किल में कांग्रेस

प्रदीप सिंह

कर्नाटक के नतीजों से यह बात और साफ हो गई कि राहुल गांधी के भाजपा विरोधी मोर्चे का नेता बनने की संभावना लगभग खत्म है

भारतीय जनता पार्टी के लिए दक्षिण का द्वार खुलकर फिर बंद हो जाने जैसी स्थिति है। चूंकि कर्नाटक के मतदाताओं ने किसी पार्टी को स्पष्ट बहुमत नहीं दिया इसलिए जोड़-तोड़ के लिए मैदान खुल गया है। कांग्रेस ने पहली चाल चल दी है। उसने जनता दल (एस) नेता एचडी कुमारस्वामी को मुख्यमंत्री बनाने का प्रस्ताव दिया है, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया है। वह सरकार बनाने के लिए तैयार हैं, लेकिन भाजपा ने अभी हथियार नहीं डाले हैं। गेंद राज्यपाल के पाले में है। उनके सामने दुविधा होगी कि सबसे बड़े दल को बुलाएं या बहुमत का दावा करने वाले गठजोड़ को। उनका फैसला जो भी हो, यह एक बात तो साफ है कि देश की सबसे बड़ी विपक्षी पार्टी कांग्रेस के लिए पिछले चार साल में 21वां दरवाजा मतदाताओं ने बंद कर दिया। कर्नाटक में कांग्रेस की हार केवल एक और राज्य हारने जैसा नहीं है। उत्तर प्रदेश की तरह कर्नाटक में भी राज्य सरकार का काम नहीं बोला। कांग्रेस के चुनाव प्रचार का मुख्य बिंदु था कि वह अपने काम के आधार पर वोट मांग रही है। राहुल गांधी और कांग्रेस के लिए मतदाताओं का एक और संदेश है-सुधरो। कर्नाटक एक ऐसा प्रदेश है जो सांगठनिक दृष्टि से भाजपा का मजबूत गढ़ कभी नहीं रहा। 2008 में सत्ता में आने के बाद पार्टी में तीन फाड़ हो गए। प्रदेश में उसके सबसे लोकप्रिय नेता बीएस येद्दियुरप्पा भ्रष्टाचार के आरोपों में घिरकर पार्टी से बाहर हो गए। वह भाजपा में वापस आकर एक बार फिर मुख्यमंत्री बनने की कोशिश कर रहे हैं। कर्नाटक की कामयाबी आगामी विधानसभा चुनावों में भाजपा का मनोबल बढ़ाएगी।

चार राज्यों मध्य प्रदेश, राजस्थान, छत्तीसगढ़ और मिजोरम में इस साल के अंत में चुनाव होने हैं। इन चार राज्यों में से राजस्थान में भाजपा की स्थिति कमजोर है, लेकिन कर्नाटक की हार के बाद कांग्रेस के लिए भाजपा की कमजोरी का फायदा उठाना आसान नहीं होगा। कर्नाटक के चुनाव नतीजों से साफ है कि दक्षिण के इस राज्य में भाजपा का जनाधार अभी इतना पुख्ता नहीं हुआ कि वह कांग्रेस को पूरी तरह मात दे सके। दूसरा संदेश यह है कि जो लोग जनता दल (एस) को लड़ाई से बाहर मान रहे थे वे गलत साबित हुए। देवगौड़ा और उनके बेटे कुमारस्वामी जानते थे कि उन्हें बहुमत नहीं मिलने वाला। उनकी सारी कोशिश किंग मेकर बनने की थी। उनके भाग्य से छींका टूटा और जो परिस्थिति बनती दिख रही है उसमें वह किंग यानी मुख्यमंत्री भी बन जाएं तो हैरत नहीं। राज्य में पराजित कांग्रेस की हालत यह है कि वह अपने विरोधी की एक आंख फोड़ने के लिए अपनी दोनों आंखें फोड़ने को तैयार है।

कर्नाटक में जनता दल (एस) का लड़ाई में बने रहना और मजबूत होना भाजपा के बजाय कांग्रेस के भविष्य की दृष्टि से ज्यादा नुकसानदेह है, लेकिन कांग्रेस इस समय भविष्य की कीमत पर वर्तमान में जो कुछ मिल जाए उसकी कोशिश कर रही है। वह भाजपा को एक और राज्य और वह भी दक्षिण भारत में सरकार बनाने से रोकने के लिए कुछ भी करने को तैयार होगी।

अवधेश राजपूत

कांग्रेस का पूरा चुनाव अभियान नकारात्मक और विभाजनकारी मुद्दों पर केंद्रित रहा। कांग्रेस और मुख्यमंत्री सिद्दारमैया ने गुजरात की तर्ज पर पहले कन्नाडिगा अस्मिता का मुद्दा बनाने के लिए राज्य के अलग झंडे और गीत की बात की। फिर उत्तर-दक्षिण और हिंदी-कन्नड़ भाषा का विवाद खड़ा किया। उसके बाद लिंगायत समाज को बांटने के लिए उन्हें अलग संप्रदाय का दर्जा देने का प्रस्ताव पास किया।

चुनाव दर चुनाव मतदाता कांग्रेस और भाजपा के दूसरे विरोधियों को संदेश दे रहा है कि हिंदू समाज को बांटने की किसी कोशिश का वह समर्थन नहीं करेगा। लिंगायत के जिस मुद्दे को वह ट्रंप कार्ड समझ रही थी वह उसे उलटा पड़ा। इस नतीजे से एक बात और साफ हो गई कि राहुल गांधी के भाजपा विरोधी किसी भी मोर्चे का नेता बनने की संभावना लगभग खत्म हो गई है। ऐसा नहीं है कि पहले इसकी बहुत ज्यादा संभावना थी। देश का सबसे बड़ा विपक्षी दल होने के बावजूद कांग्रेस विपक्षी एकता की धुरी बनने की स्थिति में नहीं रह गई है। कांग्रेस का राज इस समय देश की सिर्फ ढ़ाई फीसदी आबादी तक सिमट कर रह गया है। भाजपा विरोधी खेमे को कर्नाटक का नतीजा और कमजोर करेगा। राष्ट्रीय स्तर पर किसी भी गठबंधन के लिए जरूरी होता है कि एक ऐसी पार्टी उसकी धुरी बने जो कई राज्यों में पार्टी हो और वह सहयोगी दलों के वोट में इजाफा कर सके। पूरे विपक्षी खेमे में इस समय ऐसी कोई पार्टी नहीं है। कांग्रेस के लिए वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति में एक और कठिनाई है कि जिन राज्यों में इस साल के आखिर में चुनाव होना है वहां उसका मुकाबला सीधे भाजपा से है। वह चाहे भी तो किसी और दल से गठबंधन नहीं कर सकती, क्योंकि तीनों राज्यों में कोई तीसरा दल है ही नहीं।

कर्नाटक विधानसभा चुनावों के नतीजे ने कांग्रेस को एक बड़ी मुश्किल में डाल दिया है। पार्टी के सामने सवाल है कि वह अपने नेता और पार्टी अध्यक्ष का क्या करे? कांग्रेसियों का हाल यह है कि उनके बिना रहा भी न जाए और उन्हें सहा भी न जाए। ऐसा लगता है कि राहुल गांधी और जो भी कर सकते हों, लेकिन वह कांग्रेस को चुनाव नहीं जिता सकते। कर्नाटक की आबादी में युवाओं की संख्या बहुत ज्यादा है। कांग्रेस को सोचना चाहिए कि उसके युवा नेता की बात पर देश के युवाओं को भरोसा क्यों नहीं है? क्यों युवा मतदाता 67 साल के मोदी को सुनने ही नहीं उन पर यकीन करने को भी तैयार है? नेहरू-गांधी परिवार लंबे समय तक पार्टी को वोट दिलाने की गारंटी रहा है, लेकिन 2013 के बाद से यह परिवार पार्टी के लिए असेट की बजाय लायबिलिटी बनता जा रहा है। चुनाव अभियान के दौरान राहुल गांधी ने दावा किया उन्हें नरेंद्र मोदी की आंख में दिख रहा है कि वह 2019 में प्रधानमंत्री नहीं बनेंगे। इसी के साथ उन्होंने प्रधानमंत्री पद के लिए अपनी दावेदारी भी पेश कर दी।

राहुल गांधी के बयान किसी राष्ट्रीय नेता के लिहाज से बचकाना लगते हैं। अब कांग्रेस को तय करना है कि वह राहुल गांधी के नेतृत्व पर पुनर्विचार करेगी या नेहरू-गांधी परिवार के साथ सती होगी? कांग्रेस में बदलाव की नहीं आमूल-चूल परिवर्तन की जरूरत है। केवल संगठन में ही नहीं सोच, विचार और आचार-व्यवहार के स्तर पर भी। कर्नाटक के मतदाताओं ने कांग्रेस को केवल सत्ता से ही बाहर नहीं किया। उसके लिए कई और दरवाजे भी बंद कर दिए हैं। कर्नाटक में उसके लिए अब पीछे का दरवाजा ही एक उम्मीद है। जनता दल (एस) उसकी उम्मीद की एकमात्र किरण है। भाजपा को रोकने के लिए वह एचडी कुमारस्वामी को मुख्यमंत्री बनाने के लिए तैयार तो है, लेकिन अभी यह कहना कठिन है कि यह गठबंधन बना तो कितने दिन चलेगा? त्रिशंकु विधानसभा ने कर्नाटक को राजनीतिक अस्थिरता के दरवाजे पर खड़ा कर दिया है। उसका हित इसी में है कि उसे इस अस्थिरता से जल्द मुक्ति मिले।

(लेखक राजनीतिक विश्लेषक एवं वरिष्ठ स्तंभकार हैं)

response@jagran.com

लोकतंत्र के उत्सव की अति

राजीव सचान

लोकतंत्र में चुनाव एक उत्सव की तरह होते हैं, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि ऐसे उत्सव हर दो-चार माह में होते ही रहें

चुनाव नतीजों के बाद भी कर्नाटक किसी नतीजे पर पहुंचता नहीं दिखा। फिलहाल किसी के लिए भी यह कठिन है कि कर्नाटक में राजनीतिक अस्थिरता का ऊंट किस करवट बैठेगा। पता नहीं कर्नाटक को राजनीतिक अस्थिरता से कब मुक्ति मिलेगी और वह स्थाई होगी या अस्थाई, लेकिन यह गनीमत है कि इस राज्य के बाद जिन तीन बड़े राज्यों-राजस्थान, मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ में कुछ माह बाद चुनाव होने हैं वहां त्रिशंकु विधानसभा के आसार इसलिए कहीं कम हैं, क्योंकि इन राज्यों में कोई ऐसा ताकतवर क्षेत्रीय राजनीतिक दल नहीं है जो कर्नाटक के जनता दल-एस की तरह किंग मेकर होने का दावा करे। इस वर्ष के अंत तक राजस्थान, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ आदि राज्यों में चुनाव होते ही लोकसभा चुनाव की तैयारी और तेज हो जाएगी। लोकसभा चुनाव होने के बाद कुछ और राज्यों के विधानसभा चुनावों की तैयारी होने लगेगी। विधानसभाओं और लोकसभा के आगामी चुनावों के पहले कई उपचुनाव भी हो सकते हैं-ठीक वैसे ही जैसे कुछ दिनों पहले उत्तर प्रदेश और बिहार में और उसके पहले राजस्थान में हुए थे।

कर्नाटक के चुनावों के बाद उत्तर प्रदेश में कैराना, महाराष्ट्र में भंडारा-गोदिया एवं पालघर और नगालैंड की लोकसभा सीटों के उपचुनाव होने हैं। इन चार लोकसभा सीटों के अलावा नौ राज्यों में विधानसभा की दस सीटों के भी उपचुनाव होने जा रहे हैं। कई राज्यों में इन्हें सेमीफाइनल कहा जा रहा हो तो हैरत नहीं, क्योंकि हर चुनाव राजनीतिक दलों के लिए परीक्षा की घड़ी होता है। केवल विधानसभाओं और लोकसभा अथवा उनके उपचुनाव ही राजनीतिक दलों की परीक्षा नहीं लेते। स्थानीय निकायों और पंचायतों के चुनाव भी राजनीतिक दलों की परीक्षा लेते हैं। इन चुनावों को राजनीतिक दल किस तरह अहमियत देते हैं, इसकी गवाही पश्चिम बंगाल के पंचायत चुनाव दे रहे हैं। पंचायत चुनाव जीतने को तृणमूल कांग्रेस ने इस कदर प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया कि उच्च न्यायालय की तमाम सख्ती के बावजूद मतदान के दौरान जमकर हिंसा हुई। इस रक्तरंजित हिंसा ने यही बताया कि राजनीतिक दलों के लिए हर स्तर के चुनाव जीवन-मरण का प्रश्न बन जाते हैं। चूंकि दलों की प्रतिष्ठा का निर्धारण चुनावों में हार-जीत से होता है इसलिए वे कोई कोर कसर नहीं उठा रखते। यह तब है जब स्थानीय निकायों एवं पंचायतों के चुनावों के साथ-साथ कई बार विधानसभा और लोकसभा के उपचुनाव राष्ट्रीय राजनीति पर नगण्य प्रभाव डालते हैं। किस्म-किस्म के चुनाव राजनीतिक दलों को केवल सिर के बल ही नहीं खड़ा करते, बल्कि वे राजनीतिक माहौल को दूषित भी करते हैं। जब ऐसा होता है तो सामाजिक माहौल भी किसी न किसी स्तर पर प्रभावित होता है। आखिर यह किसी से छिपा नहीं कि कर्नाटक में चुनाव जीतने के लिए कांग्रेस ने उत्तर बनाम दक्षिण का विभाजनकारी सवाल खड़ा करने के साथ ही लिंगायत समुदाय को अल्पसंख्यक समाज का दर्जा देने में संकोच नहीं किया। हालांकि इसका उसे कोई लाभ नहीं मिला, लेकिन इसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि आगे अन्य कोई राजनीतिक दल चुनाव जीतने के लिए ऐसी विभाजनकारी राजनीति नहीं करेगा। इस मामले में यह ध्यान रहे कि गुजरात चुनावों के दौरान भाजपा ने भी पाकिस्तान को कथित तौर पर सक्रिय होते देखा था। इसके चलते संसद में कई दिन तक हंगामा भी हुआ था।

यह सही है कि लोकतंत्र में चुनाव एक उत्सव की तरह होते हैं, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि ऐसे उत्सव हर दो-चार माह में होते रहें। चूंकि चुनाव राजनीतिक दलों के बीच तनातनी बढ़ा देते हैं इसलिए लोकतंत्र के उत्सव रूपी चुनावों में कड़वाहट भी देखने को मिलती है। इस कड़वाहट को रोकने का कोई उपाय नहीं, लेकिन बार-बार होने वाले चुनावों से अवश्य बचा जा सकता है। मुश्किल यह है कि जब भी विधानसभा और लोकसभा के चुनाव एक साथ कराने का सुझाव सामने आता है तो यही माना जाता है कि सुझाव देने वाला राजनीतिक दल अपने फायदे के लिए ऐसा कर रहा है। इस पर हैरत नहीं कि भाजपा की ओर से विधानसभा और लोकसभा के चुनाव एक साथ कराने की जरूरत जताए जाने के जवाब में अधिकतर विपक्षी दलों और खासकर क्षेत्रीय दलों का यही कहना है कि ऐसा हुआ तो उन्हें घाटा होगा, क्योंकि विधानसभा चुनावों के मुद्दे अलग होते हैं और लोकसभा चुनावों के अलग। यह एक हद तक सही है-ठीक वैसे ही जैसे यह कि कई बार राष्ट्रीय मसले क्षेत्रीय मसलों को ढक लेते हैं। इसके बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि हर चार-छह माह में विधानसभाओं के चुनाव कराने का सिलसिला कायम रखने से लोकतंत्र को बल मिल रहा है। सच्चाई यह है कि बार-बार के चुनाव लोकतंत्र की अति का सूचक हैं और हर चीज की अति बुरी ही होती है। बार-बार चुनाव होने से केवल संसाधनों की ही बर्बादी नहीं होती, आचार संहिता के चलते शासन-प्रशासन के कामों में अड़ंगा भी लगता है। इससे भी चिंताजनक यह है कि पक्ष-विपक्ष के राजनीतिक दलों के बीच तनातनी बढ़ती है और उनकी प्राथमिकताएं भी बदलती हैं। जहां सत्तारूढ़ दल अपने हर छोटे-बड़े फैसले आगामी चुनाव को ध्यान में रखकर करने लगते हैं वहीं विपक्षी दल हर छोटे-छोटे से मसले को राष्ट्रीय मसला बनाने की कोशिश में रहते हैं। अगर विधानसभा चुनाव करीब हों तो कई बार संसद का चलना भी मुश्किल हो जाता है।

राजनीतिक दल चाहें तो बार-बार के चुनाव से खुद को और साथ ही देश को भी आसानी से मुक्त कर सकते हैं। यदि क्षेत्रीय दलों को यह लगता है कि लोकसभा और विधानसभा के चुनाव एक साथ कराने से राष्ट्रीय दल फायदे में और वे घाटे में रहेंगे तो फिर वे ऐसे किसी उपाय पर सहमत हो सकते हैं जिसमें लोकसभा चुनाव होने के दो या तीन साल बाद समस्त विधानसभाओं के चुनाव एक साथ हो जाएं। लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ कराने के लिए संविधान में संशोधन करना पड़ेगा, लेकिन क्या यह कोई ऐसा काम है जिसे करना दुष्कर हो? आखिर 1952 से लेकर 1967 तक लोकसभा और विधानसभा के चुनाव एक साथ ही होते थे। निःसंदेह तब क्षेत्रीय दलों का बोलबाला नहीं था और एक मात्र राष्ट्रीय दल के रूप में कांग्रेस ही थी, लेकिन अगर पहली जैसी व्यवस्था को अपनाना क्षेत्रीय दलों के हित में नहीं तो लोकसभा चुनाव के बाद एक खास अवधि में सभी विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने में उन्हें कठिनाई नहीं होनी चाहिए। अगर ऐसी किसी व्यवस्था का निर्माण हो सके जो तमाम लाभ मिलेंगे उनमें एक यह भी होगा कि राजनीतिक दल कहीं ज्यादा परिपक्व और जिम्मेदार भी बनेंगे।

(लेखक दैनिक जागरण में एसोसिएट एडीटर हैं)

response@jagran.com

ऊर्जा

उतार-चढ़ाव

जिंदगी के उतार-चढ़ाव उस दिमागी खेल की तरह हैं, जिसमें कभी हार होती है तो कभी जीत। यदि हम खेल को कुशलतापूर्वक और ध्यान से खेलते हैं तो विजय मिलती है और ध्यान चूकने पर हार का सामना करना पड़ता है। जिंदगी में परेशानियों व विपत्तियों का आगमन व्यक्ति को हताश कर देता है और उसके जीवन में अंधकार भर देता है। यकीनन किसी की अपनी योजनाओं और तौर-तरीकों में विश्वास की सच्ची परख तभी होती है, जब उसके सामने क्षितिज अंधकारमय हो। मुश्किलों व विपत्तियों को जीवन से जोड़ कर ही चलना चाहिए। पाश्चात्य विद्वान एन. लैंडर्स का कहना है कि मुश्किलों को जीवन का अनिवार्य हिस्सा मानकर चलें और जब कोई मुश्किल आए, तब अपना सिर ऊंचा उठाकर, उसकी आंख से आंख मिलाकर कहें-मैं तुमसे ज्यादा ताकतवर हूं, तुम मुझे नहीं हरा सकतीं। जिंदगी में हमेशा अच्छा ही अच्छा होता रहे तो वह भी व्यक्ति को बोर कर देता है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। जिंदगी के उतार-चढ़ाव भी इस परिवर्तन का एक हिस्सा हैं। जिंदगी के उतार-चढ़ाव ही जीवन की सबसे बड़ी सच्चाई हैं।

इसलिए हार व जिंदगी में आने वाली तकलीफों को जीवन का एक अनिवार्य अंग मानकर जिया जाए तो जीवन बेहद खूबसूरत लगने लगता है। यदि जिंदगी के उतार को धैर्य से सहन किया जाए तो समस्याओं को सुलझाने में भी एक आनंद प्राप्त होता है। जब हम अपनी सफलता का जश्न यह सोचकर मनाते हैं कि हमें हमारे संघर्ष और मेहनत का फल मिला है तो असफलता को भी यह सोचकर स्वीकार करना चाहिए कि हमारी मेहनत में कहीं कुछ कमी थी जो हम सफल नहीं हो पाए और हो सकता है कि जीवन का उतार या हार हमारे लिए इससे बड़ी सफलता रचने की तैयारी कर रहा हो। व्यक्ति जब अध्यात्म के साथ सहज व शांत तरीके से अपने कार्यों को पूर्ण करता है तो वह कार्य की असफलता से अधिक प्रभावित नहीं होता। वह इस बात को जानता है कि समय सदैव एक सा नहीं रहता। समय जल की भांति सदैव बहता रहता है। इस बहाव में जब बाधाएं आती हैं तो एक पल को जल रुक जाता है, लेकिन तभी तेज धारा से वह बाधा हट जाती है और जल अपने मार्ग पर चल पड़ता है। इसी तरह हर व्यक्ति के जीवन में भी उतार-चढ़ाव आते हैं।

रेनू सैनी

पाठकनामा

pathaknama@nda .jagran.com

उच्च शिक्षा में सुधार के उपाय

विश्वविद्यालय या डिग्री बांटने वाले कारखाने शीर्षक से लिखे अपने लेख में गिरीश्वर मिश्र ने सच बयान करने का साहस किया है। भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों और कुछ विश्वविद्यालयों के विज्ञान संकायों को छोड़कर देश के अधिकांश विश्वविद्यालयों में मानविकी और समाज विज्ञान से जुड़े विषयों की पढ़ाई का स्तर पहले के मुकाबले गिरा है। राजनीतिक दलों द्वारा देश के विश्वविद्यालयों में विचारधारात्मक कट्टरता की ओर विद्यार्थियों को धकेलकर विश्वविद्यालय परिसरों को चुनावी राजनीति की रणभूमि बनाने के कारण अकादमिक गतिविधियां और पढ़ाई-लिखाई का स्तर प्रभावित हो रहा है। जिन लोगों की राजनीति में अतिरिक्त दिलचस्पी है, उन्हें विश्वविद्यालयों को बख्शकर सीधे-सीधे चुनाव लड़ना चाहिए। मेरा ख्याल है कि विश्वविद्यालयों में यदि राजनीतिक दलों का हस्तक्षेप बंद हो, संवैधानिक पदों पर आसीन लोगों को छोड़कर तमाम दलों के नेताओं का विद्यार्थियों को भड़काने के लिए विश्वविद्यालय परिसरों में आना-जाना बंद हो, सही तरह से पढ़ाई हो और कड़ाई के साथ परीक्षा हो तो स्थिति सुधर सकती है। इसके साथ यह भी कि हमारे देश में आज विश्वविद्यालयों से ज्यादा बारहवीं कक्षा तक की अच्छी पढ़ाई के लिए केंद्रीय विद्यालयों, जवाहर नवोदय विद्यालयों और तकनीकी शिक्षा देनेवाले संस्थानों की ज्यादा जरूरत है। अंतिम बात यह कि यदि भारत के तमाम केंद्रीय विश्वविद्यालयों के शिक्षकों एवं शिक्षकेतर कर्मचारियों का हर पांच-छह वर्षों के बाद स्थानांतारण होने लगे तो स्वायत्तता के नाम पर एक ही संस्था में 30-35 साल तक काम करते हुए शिक्षकों में पैदा हो जानेवाले ईर्ष्या-द्वेष के कारण संस्थाओं में होने वाली बेमतलब की राजनीति में बहुत हद तक कमी आएगी। पांच-छह साल इसलिए, क्योंकि शिक्षकों के निर्देशन में शोध करनेवाले छात्रों के लिए शोध प्रबंध जमा करने के लिए अधिकतम समय-सीमा पांच वर्ष है। राज्य स्तरीय विश्वविद्यालयों के शिक्षकों एवं शिक्षकेतर कर्मचारियों का भी उसी राज्य के दूसरे विश्वविद्यालयों में तबादला होना चाहिए।

रवि रंजन, विजिटिंग प्रोफेसर, वारसा विश्वविद्यालय

सच सामने आ ही जाता है

आतंकवादियों के बसेरे को लेकर सारी दुनिया नापाक पाक की हकीकत जानती है। बेशक पाक इसे झूठलाने के लिए कितनी ही सफाई देता हो, लेकिन भारत में आतंकवाद फैलाने, यहां होने वाले आतंकी हमलों के पीछे उसका हाथ और कश्मीर का माहौल खराब करने के पीछे शत प्रतिशत पाक का ही हाथ है। पाकिस्तान के पूर्व प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने भी सच बता ही दिया कि 2008 में मुंबई हमले के पीछे पाकिस्तानी आतंकियों का ही हाथ था। शरीफ के पीएम पद से हटने के बाद आए इस बयान ने यह भी साबित कर दिया कि पाकिस्तानी सत्ताधारी उन कट्टरपंथियो के हाथ की कठपुतली है, जो भारत के प्रति हमेशा नफरत, विरोध की भावना रखते आए हैं।

राजेश कुमार चौहान, जालंधर

चुनावी हिंसा सरकार की नाकामी

पश्चिम बंगाल में ममता बनर्जी की सरकार की दादागिरी और टीएमसी कार्यकर्ताओं की गुंडागर्दी इस कदर हावी है कि वहां पर एक छोटे से चुनाव में भारी हिंसा को अंजाम दिया गया, जिससे इस पंचायत चुनाव में कितने मासूम असमय ही काल के गाल में समा गए। एक लोकतांत्रिक देश में जिस तरह मतदान के दिन जगह-जगह पर हिंसा की गई, यह बहुत ही शर्मनाक है। ताज्जुब की बात तो यह है कि हिंसा के दौरान ऐसा लग रहा था जैसे राज्य में न तो पुलिस थी और न ही प्रशासन। चुनाव जीतने के लिए जिस प्रकार से हिंसा का सहारा लिया गया वह निंदनीय है। नीरज कुमार पाठक, आइसीएआइ, नोएडा

वफादारी दिखाने को तोड़ी चुप्पी

दस वर्ष प्रधानमंत्री रहने वाले डॉ मनमोहन सिंह ने अगले वर्ष होने वाले लोकसभा चुनाव को ध्यान में रखते हुए और सोनिया गांधी के प्रति अपनी वफादारी दिखाने के लिए अपना मौन तोड़ना आरंभ कर दिया है। उन्होंने मोदी जी के एक भाषण को आपत्तिजनक बताया है। आपको यह विदित ही होगा कि मोदी जी ने कर्नाटक के हुबली में चुनाव प्रचार के समय अपनी चिरपरिचित आक्रामक अंदाज में कहा था कि कांग्रेस के नेता कान खोलकर सुन लीजिए, यदि सीमाओं को पार करोगे तो यह मोदी है, लेने के देने पड़ जाएंगे। विपक्ष में होने के कारण डॉ. मनमोहन सिंह ने मोदी जी द्वारा कांग्रेसियों को दी गई चेतावनी के विरुद्ध आपत्ति करते हुए एक विरोध पत्र राष्ट्रपति को लिखा है जिसमें अपने कुछ साथियों के हस्ताक्षर भी करवाए हैं। उनका ऐसा करना भी सोनिया-राहुल के निर्देशानुसार हो तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। वैसे भी उनके सर्वोपरि राहुल गांधी अब प्रधानमंत्री बनने को तैयार हो गए हैं तो सामान्यतः वर्षों तक मौन रहने वाले डॉ मनमोहन सिंह का कुछ तो दायित्व बनता ही है।

विनोद कुमार सर्वोदय, गाजियाबाद

जवाबदेही का सिद्धांत समय की मांग

सुशासन सुनिश्चित करने को सार्वजनिक प्राधिकरण की जवाबदेही जरूरी है। हाल ही में सीबीआइ ने बैंक अधिकारियों के खिलाफ आरोपपत्र दायर किया है जिनकी मिलीभगत के कारण ही नीरव मोदी बैंकों को चूना लगाने में सफल हुआ। यदि शीर्ष अधिकारी उत्तरदायी माना जाता है, तो कनिष्ठ कभी नियमों का उल्लंघन नहीं करेगा। अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, चीन जैसे दुनिया के सबसे विकसित देशों ने सुशासन प्रदान करने के लिए जवाबदेही के सिद्धांत का पालन किया है। भारत में भी इसे लागू करना अब समय की मांग है।

डिम्पी भाटिया, नई दिल्ली

ट्वीट-ट्वीट

अगर कांग्रेस कर्नाटक का गढ़ नहीं बचा सकी जहां भाजपाई कुनबा बिखरा हुआ और सरकार के खिलाफ बहुत असंतोष भी नहीं था तो संदेश साफ है कि वह भाजपा का विकल्प नहीं बन सकती। इससे विपक्ष की स्थिति और खराब होगी।

योगेंद्र यादव@_YogendraYadav

कांग्रेस और जनता दल सेक्युलर के चुनाव बाद हुए गठबंधन को सरकार बनाने का पहला अधिकार है। इससे इतर कोई फैसला संविधान का मखौल उड़ाएगा। राज्यपाल जैसे उच्च पद पर आसीन व्यक्ति को इस अवसर पर मिसाल कायम करनी चाहिए।

डॉ. अश्विनी कुमार@DrAshwani_Kumar

कर्नाटक के राज्यपाल इस